नए दौर में स्कूली शिक्षिकाएं

कुछ प्रारंभिक विचार

नंदिनी मांजरेकर

“आज के दौर में भारत में शिक्षा के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन की लहर चल रही है। इसी समय में बड़ी संख्या में शिक्षिकाएं इस क्षेत्र से जुड़ रही हैं। इस लेख में नवउदारवादी नीतिगत सुधारों के परिणामस्वरूप पैदा हुई उन तार्किक व भौतिक परिस्थितियों के बारे में चर्चा की गई है जो आज इन स्कूली शिक्षिकाओं के जीवन को गढ़ रही हैं व पुनर्परिभाषित कर रही हैं।”

इस लेख में नारीवादी नज़रिए से सवाल खड़ा किया गया है। सवाल यह है कि हम इस ‘नए दौर’ में स्कूली शिक्षिकाओं के काम व जीवन को समझते कैसे हैं? यहां ‘नए दौर’ से आशय सन् 1990 के बाद के आर्थिक बदलावों के कारण सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रिश्तों में आए और आ रहे बदलावों से है। पिछले दो दशकों के दौरान आए नवउदारवादी सुधारों ने सार्वजनिक स्कूलों द्वारा कुशलतापूर्वक शिक्षा देने में असमर्थ रहने के विचार को हवा दी है। यह लेख सार्वजनिक शिक्षा से संबंधित नवउदारवादी विमर्श, शिक्षा के क्षेत्र में हर स्तर पर राज्य द्वारा बाजारवादी सुधारों की दिशा में किए जा रहे बदलावों और स्कूली शिक्षिकाओं की जिन्दगियों के बीच एक संबंध देखता है।

यहां मैंने जो सवाल उठाए हैं वे इस मान्यता पर टिके हैं कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे आमूलचूल परिवर्तनों के इस क्षण में स्कूली शिक्षा की दुनिया में महिलाएं बड़ी संख्या में आ रही हैं और ऐसे में उनकी स्थिति जटिल व बोझ से लदी-फदी होती जा रही है। हमारे पास व्यापक और सूक्ष्म दोनों स्तरों पर इस बात की समझ बहुत कम है कि सवैतनिक रोजगार क्षेत्र के तौर पर स्कूली दुनिया के भीतर उनका गठन किस तरह किया जाता है। स्थान (ग्रामीण/शहरी या अर्द्ध-शहरी) की बात हो या फिर ऐतिहासिक रूप से गहरे बैठी स्तरीकृत व्यवस्था की, हमारे पास शिक्षिकाओं को लेकर किए गए परिस्थिति विश्लेषण कम ही उपलब्ध हैं। उत्तर सुधारवादी समय में स्कूलों को निजी गैर-सहायता प्राप्त स्कूल, निजी-सार्वजनिक प्रबंधन के तहत चलने वाले राज्य के स्कूल, कम फीस वाले निजी स्कूल, कस्तूरबा गांधी बालिका आवासीय विद्यालय, धनाढ्य इंटरनेशनल स्कूल आदि के नाम पर न सिर्फ नए-नए वर्गों में बांटा जा रहा है बल्कि उनके बीच के फर्क को और गहरा किया जा रहा है तथा शैक्षिक सुधार जैसे व्यापक शीर्षक के तहत इन्हें नियंत्रण की नई व्यवस्था की तरफ धकेला जा रहा है। हम महिलाओं के अपने वर्ग, जाति, नस्ल और धर्म संबंधी पहचान को लेकर स्कूल में होने वाले उनके अनुभवों के बारे में भी बहुत कम जानते हैं।

यह लेख इस बात पर बल देता है कि हमें सामाजिक पुनरुत्पादन की व्यापक प्रक्रियाओं को समझने के लिए शिक्षिकाओं की पेशेवर व निजी जिन्दगियों के बारे में नारीवादी नज़रिए से और गहाराई से समझ विकसित

करने की जरूरत है। इस तरह की पड़ताल सार्थक होगी क्योंकि एक तरफ तो स्कूली शिक्षिकाओं को स्कूल व परिवार दोनों जगहों पर श्रम करने के हिसाब से तैयार किया जा रहा है जबकि दूसरी ओर इन दोनों ही जगहों पर उनके जीवन के जेंडर संबंधी पहलुओं को आर्थिक बदलावों के आधार पर बदला व पुनर्परिभाषित किया जा रहा है। सामाजिक पुनरुत्पादन व नियंत्रण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए तथा राज्य के साथ इसके रिश्ते के महत्व को समझते हुए एवं आधुनिक समाज में पहचान के निर्माण के साथ जुड़े इसके आर्थिक व वैचारिक संबंधों को देखते हुए शिक्षा की दुनिया के बारे में यह जानना महत्वपूर्ण हो जाता है कि सुधारों के इस विमर्श में महिलाएं आखिरकार कहां स्थित हैं। सामाजिक पुनरुत्पादन से संबंधित जो वैचारिक ढांचा या रूपरेखा है वह इस तरह की पड़ताल करने के लिए उपयोगी रहती है क्योंकि इसकी मदद से हम शिक्षिकाओं की जिन्दगी पर सुधारों के पड़ने वाले तार्किक व भौतिक प्रभावों को जांच सकते हैं और जान सकते हैं कि वे पुनरुत्पादन की इन दो महत्वपूर्ण जगहों- परिवार व स्कूल के साथ किस तरह समझौता करती हैं।

महिलाएं, शिक्षा व सामाजिक पुनरुत्पादनः एक सत्ता बनी रहने वाली बेचैनी

भारत में स्कूली शिक्षिकाओं के काम, उनकी जिन्दगी व औपचारिक शिक्षा की पड़ताल नारीवादी नज़रिए से अभी तक लगभग नहीं हुई है। हमारे यहां जेंडर व स्कूली पाठ्यचर्या जैसे मुद्दों पर नज़र आने वाली सक्रियता बहुत पुरानी बात नहीं है। शुरुआत में यह सक्रियता हिन्दुवादी-दक्षिणपंथियों के शिक्षा संबंधी एजेंडे व महिला को पुनर्परिभाषित करने के एजेंडे को एक जवाब के तौर पर दिखाई देती है जो आगे चलकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 विकसित करने के लिए चली प्रक्रियाओं में अवसर मिलने पर पाठ्यचर्या संबंधी नीतियों के संदर्भ में और गहराई ले लेती है। यह सब होने के बावजूद यह कहना पड़ेगा कि वर्तमान संदर्भ में नारीवादी विमर्श के अन्तर्गत आने वाले शिक्षा व समाज के बीच के महत्वपूर्ण रिश्ते जैसे- राज्य की भूमिका, वर्ग, नस्ल जाति, जेंडर, विषमता का सामाजिक पुनरुत्पादन, ज्ञान की राजनीति, श्रम व यौनिकता आदि अनछुए ही रह गए हैं। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम शिक्षा को नारीवादी नज़रिए से जांचने का काम करें और शिक्षा के क्षेत्र को व्यापक सामाजिक व सांस्कृतिक पुनरुत्पादन के हिस्से के रूप में देखें।

हमारी यह कोशिश हमारा सामना महिला-शिक्षा के एक मुख्य अंतर्विरोध से करवाती है। वह यह कि महिलाओं को नारीवादी चेतना के बिना शिक्षित करना ज्यादा आसान है। राज्य (परिवार) जेंडर (या वर्ग/जाति/नस्ल आदि) के मुद्दे की बात न करने वाली महिला-शिक्षा को अपना सकता है 'ताकि महिलाएं परिवार के वर्तमान ढांचे की अर्थव्यवस्था में अपना बेहतर योगदान कर सकें और उनका शिक्षित होना यथास्थितिवाद को बनाए रख सके। ताकि सत्ता व वर्चस्व की सारी मूलभूत संरचनाएं बनी रहें। इस नज़रिए से अगर शिक्षण को एक जेंडर आधारित आग्रह से युक्त श्रम के तौर पर देखना शुरू करें तो यह हमारे विश्लेषण में कई पहलू जोड़ देता है। जैसे कि इस बात को महसूस कर पाना कि शिक्षकों की जगह जब शिक्षिकाएं लेने लगती हैं तो कार्यक्षेत्र में सत्ता के ध्रुवों व केन्द्रों में हुए बदलावों की वजह से काम के स्वरूप में बदलाव आ जाता है। यह इस वजह से भी होता है कि महिलाएं वैतनिक/अवैतनिक श्रम के तौर पर एक से ज्यादा जगहों पर काम कर रही होती हैं- महिलाओं के लिए यह दूसरी जगह घर होता है।

समाज की व्यापक संरचनाओं में महिला शक्ति का अभाव होने की वजह से शिक्षिका से सत्ता का जिस तरह का प्रतिपक्ष रचने की उम्मीद की जाती है उसकी जगह शिक्षिका एक 'असंभव-सी कल्पना' में तब्दील हो जाती है। यह अंसभव-सी कल्पना शिक्षिकाओं के प्रति जेंडर आग्रह की वजह से पैदा होती है। यह आग्रह उन्हें पालन-पोषण की धारणा के जाल में फंसा देता है। इसके तहत शिक्षिकाओं को स्कूली शिक्षा की दुनिया के साथ इस विचार के साथ जोड़ दिया जाता है कि महिलाओं में बच्चों की देखभाल करने की एक स्वभाविक क्षमता होती है। इसलिए यह आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि दुनिया में शिक्षिकाओं की सबसे ज्यादा संख्या प्राथमिक व पूर्व-प्राथमिक स्तर पर पाई जाती है।

दूसरी दिक्कत शिक्षिकाओं के महिला-शिक्षा के साथ के रिश्ते की वजह से पैदा होती है। आजाद भारत में औपचारिक शिक्षा के विस्तार के कारण महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर बढ़ रहे थे। महिलाएं शिक्षा हासिल कर रही थीं और वैतनिक रोजगार के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ रही थीं। किन्तु वे सिर्फ शिक्षा जैसे पेशे से ही ज्यादा जुड़ रही

थीं जिसका संबंध 'पालन-पोषण' की धारणा से था। यह विकास के जेंडर समता के उद्देश्य को हासिल करने का एक साधन तो था किन्तु यह नारीवादियों को परेशान किए रहती थी। क्योंकि यह बात स्कूल को वैतनिक रोजगार पाने के ऐसे क्षेत्र के तौर पर वैधानिकता प्रदान करता है जहां जेंडर का सामाजिक पुनरुत्पादन बरकरार रहता है।

अभी ऐसे बहुत से मुद्दे हैं जिनका विश्लेषण किया जाना बाकी है। जैसे कि शिक्षा की वह कौनसी व्यापक राजनैतिक अर्थव्यवस्था है जिसके अंतर्गत शिक्षित महिलाएं स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में रोजगार तलाश रही हैं? नीतिगत सुधारों ने कार्यस्थल के तौर पर स्कूल के सामाजिक व आर्थिक चरित्र को किस तरह से पुनर्परिभाषित किया है और उसके भीतर सामाजिक संबंधों को किस तरह पुनर्परिभाषित किया है? इन चर्चाओं में जेंडर को लेकर क्या नज़रिया है? शिक्षा, परिवार तथा जेंडर के बीच बनते हुए वे नए रिश्ते कौनसे हैं जो शिक्षिकाओं के जीवन को प्रभावित कर रहे हैं?

पहले व आज के दौर में स्कूली शिक्षा व महिलाएं

शिक्षिकाएं घर और स्कूल दोनों जगहों पर सामाजिक पुनरुत्पादन की दोहरी भूमिकाएं निभा रही होती हैं और यह भूमिकाएं जो कि मूलतः देखभाल या पालन-पोषण करने से संबंधित श्रेणी की होती हैं उनकी पहचान के साथ दोनों ही जगहों पर निरंतर चिपकी रहती हैं। महिलाओं को शिक्षा से जोड़ने के पीछे इस तरह की मान्यताएं औपनिवेशिक काल से ही नीतियों के केन्द्र में चली आ रही हैं। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा का विस्तार होने की वजह से, खासतौर पर शिक्षा के सार्वजनीकरण पर जोर देने की वजह से तथा लड़कियों को शिक्षा से जोड़ने की वजह से नीतियों का जोर बड़ी संख्या में शिक्षिकाएं नियुक्त करने पर रहा है।

सन् 1950 से ही शिक्षिकाओं की संख्या में तेजी से इजाफा हुआ है। 2010-2011 के डाइस के आंकड़े बताते हैं कि स्कूली स्तर पर शिक्षिकाओं की संख्या 45 प्रतिशत तक पहुंच गई है। 2008-2009 डाइस के आंकड़े बताते हैं कि गांवों में एक तिहाई संख्या शिक्षिकाओं की है तथा शहरों में यह आंकड़ा 65 प्रतिशत है। 1980 के बाद शुरू हुए ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड, डीपीईपी, सर्वशिक्षा अभियान आदि जैसे शिक्षा में सुधार संबंधी कार्यक्रमों के बाद शिक्षिकाओं की संख्या में बहुत तेजी से इजाफा हुआ है। कुछ राज्यों मे जहां 50 प्रतिशत शिक्षिकाओं के लिए आरक्षण है वहां तो शिक्षिकाओं की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई है। कई राज्यों में तो कुल शिक्षकों में से आधी संख्या शिक्षिकाओं की है। आंकड़े यह भी बताते हैं कि सरकार से अनुदान नहीं ले रहे निजी स्कूलों में शिक्षिकाओं का प्रतिशत ज्यादा है। यही बात कांट्रेक्ट या संविदा से भरे जाने वाले शिक्षकों के पदों के संदर्भ में भी सही है और यह दोनों ही जगहें कम वेतन वाली व असुरक्षित रोजगार देने वाली हैं।

2008-09 डाइस आंकड़ों के विश्लेषण वाली रिपोर्ट देखें तो पता चलता है कि स्कूलों में शिक्षिकाओं की बड़ी संख्या 25 से 45 साल के बीच की उम्र की है। इस बात का असर बहुत से गंभीर मुद्दों पर पड़ता है। एक ऐसी व्यवस्था में जहां सत्ता व प्रशासन पुरुषों के हाथ में हो (प्रधानाचार्य व प्रधानाध्यापक के पदों पर महिलाओं की संख्या बेहद कम है) वहां शिक्षिकाओं को अपनी सेवा शर्तें तय करने में, अपनी रोजगार संबंधी भावी संभावनाओं को तय करने में, मातृत्व अवकाश व बच्चों की देखभाल के संबंध में कोई निर्णय लेने में काफी कठिनाई आती है। इस उम्र की महिलाएं अपने घरों में शादी करने, बच्चे पालने, परिवार संभालने व परिवार के साथ स्थानांतरित होने जैसे बहुत से मुद्दों से जूझ रही होती हैं।

वर्तमान समय में शैक्षिक नीतियां व उनका क्रियान्वयन तीन अलग-अलग पहलुओं का मिलान बिन्दु बनकर उभरता है। ये तीन पहलू हैं बाजार, स्कूल तथा शिक्षक। इनका मिलान बिन्दु द्वंद्वात्मक रिश्ते वाली एक ऐसी मैट्रिक्स तैयार करता है जिसकी मदद से हम आज के समय में शिक्षिकाओं के काम को समझ सकते हैं।

पहला पहलू है बाजार को लेकर चलने वाला विमर्श। इसका संबंध अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले आर्थिक सुधारों की वजह से पैदा होने वाली मांग को पूरा करने के लिए हमारी शिक्षा व्यवस्था में बदलाव लाने से है। इसका उद्देश्य हमारी शिक्षा व्यवस्था में बाजारोन्मुखी बदलावों को सांस्थानिक जामा पहनाना है। साथ ही इसकी दक्षता व उत्पादकता को बढ़ाना है। इसके साथ हमारी शिक्षा व्यवस्था में 'नई किस्म की प्रबंधन व्यवस्था' का जन्म हुआ है, जिसका मुख्य लक्षण

नई तरह का सार्वजनिक प्रबंधन है। यह निजी क्षेत्र के प्रबंधन का मॉडल है जो सार्वजनिक संस्थानों में घुलमिल गया है। बाजार की इस शब्दावली में शिक्षक एक 'सेवा प्रदाता' है और छात्र 'उपभोक्ता'। इस तरह से इस व्यवस्था में शिक्षक और छात्र का आधारभूत रिश्ता ही बदल जाता है और शिक्षा एक उपभोग की वस्तु में तब्दील हो जाती है।

भारत में शिक्षा व्यवस्था में सुधार कुछेक मुख्य मुद्दों के इर्द-गिर्द हो रहा है। ये मुद्दे हैं- सरकारी स्कूलों की अक्षमता, अभिभावकों को विकल्प उपलब्ध करवाना, शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए निजी-सार्वजनिक साझेदारी की जरूरत होना, कम फीस वाले निजी स्कूलों की जरूरत होना व उसके पीछे आर्थिक तर्क का होना। शिक्षा के क्षेत्र में 'विकल्प की उपलब्धता' के विचार को अमली जामा पहनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क के जरिए भूमंडलीकृत कॉर्पोरेट पूंजी व स्थानीय व्यावसायिक हित साथ में मिल गए हैं। किन्तु दुखद यह है कि शिक्षा का इस तरह उपभोग की वस्तु में यह रूपांतरण हमारे देश में उस दौर में हो रहा है जिस दौर में हमारे देश की शिक्षा का कुछ लोकतांत्रिकरण होने लगा है। चाहे वह असमान व अव्यवस्थित तरीके से ही हो रहा है। इस दौर में हाशिए पर छूट गए समुदायों से बड़ी संख्या में छात्र शिक्षा पाने लगे हैं और वे शिक्षा के जरिए एक सम्मानजनक जीवन हासिल करने की आस लगाए बैठे हैं। पिछले सालों में सरकारी अनुदान नहीं लेने वाले निजी स्कूलों व कम फीस वाले निजी स्कूलों का प्रसार शहरी, अर्द्ध-शहरी व ग्रामीण इलाकों में बहुत तेजी से हुआ है। ये स्कूल गरीब तबके व निम्न मध्यम वर्ग के लोगों को अपनी सुविधा मुहैया करवाते हैं। अध्ययन बताते हैं कि विकल्प की उपलब्धता होने व अभिभावकों की अंग्रेजी माध्यम स्कूलों की मांग को संतुष्ट करने का यह तर्क दरअसल सामाजिक रूप से वंचित समुदायों के खिलाफ जाता है। खासतौर पर इन समुदायों की लड़कियों के खिलाफ। ये निजी स्कूल कम पारिश्रमिक वाले एक श्रम बाजार का निर्माण करते हैं। रिपोर्टें बताती हैं कि इस तरह के स्कूल बड़ी संख्या में शिक्षिकाओं को अपने यहां काम पर रखते हैं।

अनैतिक आचरण, अभिभावकों व स्थानीय समुदाय के प्रति जिम्मेदारी का अभाव, बच्चों का सीखने के अपेक्षित स्तर पर नहीं पहुंचना, स्कूल से बार-बार अनुपस्थिति व मुद्दों का राजनीतिकरण करना जैसी तोहमत सरकारी शिक्षकों पर लगती रही है। उनकी नौकरी स्थायी होने व अभिभावकों व बच्चों की तुलना में उनका यूनियन के रूप में संगठित होना आदि बातें भी उनके खिलाफ जाती हैं।

शिक्षकों को जिम्मेदार बनाने के नाम पर उन्हें संविदा पर रखने का तर्क दिया जाता है और इसे उनके दक्षता बढ़ाने के उपाय के तौर पर देखा जाता है। संविदा शिक्षकों व 'पैरा टीचर' की नियुक्ति हमारे यहां 1990 से शुरू हुए शैक्षिक सुधारों का मूल लक्षण रहा है। यह तर्क दिया जाता रहा है कि शैक्षिक सुधारों का शिक्षकों द्वारा जो विरोध किया जाता है उसके पर कतरने का एक रास्ता उनकी नियुक्ति का विकेन्द्रीकरण करना है। प्राथमिक स्तर पर पैरा टीचर कुल शिक्षकों की संख्या के 16 प्रतिशत हैं और उनका वेतन स्थायी शिक्षकों के वेतन का एक तिहाई के आस-पास होता है। वे आमतौर पर स्थायी शिक्षकों की तुलना में युवा होते हैं तथा उनकी शैक्षणिक योग्यता भी अपेक्षाकृत ज्यादा होती है किन्तु उनके पास शिक्षण को लेकर पेशेवर प्रशिक्षण नहीं होता (शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के संदर्भ में वर्तमान में प्रशिक्षित शिक्षकों की भारी संख्या में कमी है)। इसी दौर में निजी स्कूलों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है और कम वेतन व संविदा पर काम करने वाली शिक्षिकाएं बड़ी संख्या में इन निजी स्कूलों से जुड़ी हैं। शिक्षकों का यह कम वेतन अक्सर दैनिक न्यूनतम मजदूरी से भी कम होता है और इसे सदा कम लागत पर शिक्षा का सार्वजनीकरण का उद्देश्य हासिल करने का तर्क देकर सरकार, अनुदान देने वाली एजेंसियों व निजी क्षेत्र द्वारा उचित ठहराने का प्रयास किया जाता है।

शैक्षणिक सुधारों का स्कूली शिक्षकों पर जो प्रभाव पड़ रहा है उसे लेकर भारत में पिछले कुछ सालों से काफी विवाद रहा है। एक तरफ ऐसे अध्येता हैं जिनका मानना है कि सामाजिक न्याय व समता को स्कूली नीतियों का मुख्य आधार होना चाहिए जबकि दूसरी ओर नीतियों को अमली जामा पहनाने वाले ऐसे लोगों का समूह है जो कम लागत पर सक्षम एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा गरीबों तक पहुंचाने की वकालत करते हैं। शिक्षकों पर बढ़ते प्रशासनिक बोझ पर भी लोगों का ध्यान गया है। खासकर सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को छात्रवृत्ति, उपस्थिति, मिड डे मील आदि जैसे बहुत सारे आंकड़े व रिकॉर्ड रखने पड़ते हैं। एक अध्ययन के दौरान पाया कि आन्ध्र प्रदेश के स्कूलों में शिक्षकों को

कम से कम 22 प्रकार के रिकॉर्ड संभालने पड़ते हैं। रिकॉर्ड रखने को लेकर सनक की हद तक का यह रवैया उस बाजार की जरूरत से जुड़ा है जिसका रिश्ता निजीकरण/भूमंडलीकरण है। इसे लेकर शिक्षकों व प्रधानाध्यापकों में काफी असंतोष है क्योंकि यह उनकी स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता को बाधित करता है तथा इस तरह के काम के संबंध में किसी प्रकार का मार्गदर्शन व मदद उपलब्ध नहीं होती और इसमें गलती होने की भी संभवना काफी होती है।

इस प्रकार शिक्षा के विस्तार व सार्वजनीकरण संबंधी शैक्षिक सुधारों के इस उल्लास के बीच शिक्षक अपने-आपको प्रशासनिक बोझ के तले दबा हुआ, अकेला व हताश महसूस करते हैं। ऊपर से उन पर अनुपस्थित रहने व पढ़ाने को लेकर निरुत्साहित होने की तोहमत लगती है सो अलग। गरीबों को शिक्षा उपलब्ध करवाने वाले सार्वजनिक स्कूलों की खराब हालत की वजह सरकार खुद ही है और शिक्षकों की गुणवत्ता व पेशेवर दक्षता पर सवाल उठाकर इसे उजागर भी वह खुद ही करती है।

नई प्रबंधकीय तकनीकों के जरिए शिक्षकों के काम को नियंत्रित करके किए जाने वाले शैक्षिक सुधार सभी शिक्षकों के काम व पहचान पर असर डाल रहे हैं। इस तरह के उपायों की वजह से सर्वत्र प्रबंधन व्याप्त हो जाता है जिसकी वजह से कक्षा शिक्षण व आकलन जैसे रोजमर्रा के कामों पर हर वक्त नज़र रखी जाने लगती है और शिक्षण जैसा काम एक तरह के ऐसे प्रदर्शन में तब्दील हो जाता है जिसका काम सुधारों से पैदा हुई मांग की पूर्ति करना हो जाता है। शिक्षिकाओं पर इसका बेहद गंभीर असर पड़ा है और बदकिस्मती से भारतीय परिस्थितियों में इसे लेकर अभी तक ठीक से कोई अध्ययन नहीं हो पाया है।

जेंडर के नज़रिए से पड़ने वाले प्रभाव का आकलन सुधारों के दूसरे पहलू के बारे में भी किया जाना चाहिए। यह दूसरा पहलू है शिक्षकों का 'पेशेवर रुख' और इसे लेकर होने वाला विमर्श। नारीवादी अध्येताओं ने इस बात पर ध्यान दिलाया है कि आधुनिक शिक्षक को लेकर जो अवधारणाएं विकसित हो रही हैं वे 'नवउदारवादी तर्क' से किस तरह प्रभावित हो रही हैं। इस संदर्भ में शिक्षकों को शैक्षिक सुधारों के आधारभूत कारकों के तौर पर देखा जाता है। बाजार में शिक्षा की सफलता को इस रूप में देखा जाता है। वह देश का भूमंडलीकृत आर्थिक शक्ति के रूप में रूपांतरण कितना कर पाती है। पूरा दारोमदार इस पर टिका होता है कि शिक्षक कितने पेशेवर हैं और यह विचार शिक्षक को एक साधन के रूप में देखने के विचार पर टिका होता है। इस तरह की बातें 'आधुनिक शिक्षक के बारे में जनता के नज़रिए में सुधार लाने वाली' सरकारी परियोजनाओं को जन्म देती हैं। शिक्षकों का पेशेवर होना उनके कुशलतापूर्वक व्यवहार करने से तय होता है। इस कुशलतापूर्वक व्यवहार को छात्रों की उपलब्धि तथा सामाजिक व आर्थिक बदलावों के आधार पर परखा जाता है। सुधारकर्ता के तौर पर शिक्षक का एक साधन के रूप में इस तरह इस्तेमाल होने का अर्थ होता है कि वह मानकों, उद्देश्यों को हासिल करने के लिए अपने निजी हितों की बलि दे दे। अध्येताओं का कहना है कि शिक्षकों के पेशेवराना रुख को सरकार के द्वारा एक ऐसे राजनैतिक हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है जो मुक्ति का अहसास (सहयोग, सशक्तिकरण आदि के नाम पर) देता है परन्तु ठीक उसी वक्त वह शिक्षकों को शोषण होने की हद तक अकुशल व गैर-पेशेवर बना रहा होता है।

अभी हाल ही में शिक्षकों की योग्यता व कौशल विकसित करने संबंधी सेवाकालीन प्रशिक्षणों में जेंडर को भी शामिल किया गया है। सर्वशिक्षा अभियान के अनिवार्य 20 दिवसीय प्रशिक्षण के दौरान शिक्षक जेंडर संबंधी सत्रों में भी हिस्सा लेते हैं। यह प्रशिक्षण लड़कियों को स्कूल से जोड़ने के संबंध में जेंडर समझ विकसित करने पर केन्द्रित होते हैं। इस तरह के सीमित उद्देश्य लेकर चलने वाले प्रशिक्षणों में सत्ता के विविध रूपों पर ध्यान बहुत नहीं जा पाता है। यह प्रशिक्षण महिलाओं के काम की वास्तविक परिस्थितियों, उनके जेंडर रिश्ते व स्कूल में मौजूद भेदभाव के प्रति बहुत कम समझ बना पाते हैं। न ही यह पाठ्यपुस्तकों में मौजूद जेंडर पहचान के मुद्दे पर कोई आलोचनात्मक समझ विकसित कर पाते हैं। शिक्षिकाएं बताती हैं कि उन्हें हर स्तर पर लड़कियों की भागीदारी बढ़ाने के लिए और अधिक मदद की जरूरत होती है और इस तरह के पारंपरिक प्रशिक्षण उनकी इस जरूरत का कोई हल उन्हें नहीं सुझाते।

जेंडर समता व सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर गहरी समझ बनाने के बजाय संख्या के आधार पर जेंडर बराबरी पर जोर देने की यह संकुचित समझ इन एक या दो दिवसीय प्रशिक्षणों को 'नारीशक्ति या नारी जागृति' जैसी सीमित

विचार सरणी में डाल देते हैं। इसे अगर 'नारीवाद' के नज़रिए से देखें तो यह काफी नुकसानदेह है और शिक्षा के उद्देश्यों से इसका दूर का भी नाता नहीं है। जेंडर पर होने वाले प्रशिक्षणों को शिक्षकों व छात्रों के सामने आने वाली जेंडर संबंधी सभी प्रकार की चुनौतियों के लिए एक रामबाण दवा के रूप में देखा जाता है किन्तु इनमें शिक्षणशास्त्र संबंधी मुद्दों को लेकर होने वाली चर्चाओं की गैर-मौजूदगी की वजह से यह वह सब नहीं कर पाते जिसकी उम्मीद इनसे की जाती है। शिक्षिकाओं को अनुबंध पर रखना और उन्हें प्रशिक्षण दे देना और फिर यह मान लेना कि नारीवादी शिक्षणशास्त्र संभव हो जाएगा, इस बात में ही तार्किक दोष मौजूद है। चारों ओर मौजूद विद्वेष के माहौल में जब किसी भी मुद्दे को उठाना सामाजिक अस्थिरता पैदा करने वाला कदम मान लिया जाता हो तो ऐसे में सरकार द्वारा प्रस्तावित प्रशिक्षण में नारीवादी शिक्षणशास्त्र के मुद्दों पर की जाने वाली चर्चा 'लड़कियों के अनुकूल कक्षा-कक्ष' विकसित करने जैसे मुद्दे पर होने वाली चर्चा में सिमट कर रह जाती है। नारीवादी नज़रिए से विचार करते वक्त हमें यह मानना पड़ेगा कि खुद शिक्षक भी शिक्षा के सत्तावादी व खंडित स्वरूप के शिकार रहे हैं तथा उनका सामाजीकरण जेंडर विचारधाराओं को जायज ठहराने के लिए किया जाता रहा है। अतः ऐसे में उनसे नारीवादी शिक्षण करने की उम्मीद करना दूर की कौड़ी है। यह देखना भी दिलचस्प है कि हाल ही में पाठ्यचर्या में जो सुधार हुए हैं वे सक्रिय शिक्षक व साथ मिलकर ज्ञान निर्माण करने की बात करते हैं, इन सुधारों में ऐसे कदम भी उठाए जा सकते थे जिनसे नारीवादी शिक्षणशास्त्र की संभावनाओं पर होने वाली बहसों को बढ़ाया जाता किन्तु इसके बजाय एनसीएफ 2005 में शिक्षक के मत व अस्तित्व को नकार देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है या फिर शिक्षण व आकलन के नए 'बाल केन्द्रित' मॉडल से जो परिणाम मिलते हैं उनमें मौजूद जेंडर के प्रभावों के प्रति एक तरह से आंख मूंद ली जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि इस 'पेशे' में मातृत्व पुनर्स्थापित हो जाता है।

आधुनिक समय में महिला शिक्षक

भूमंडलीकृत सुधारों के इस दौर में शिक्षा के क्षेत्र में किए जा रहे बदलावों के मूल में शिक्षक की असफलता का विमर्श है। जैसे कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि लंबे समय से शिक्षिकाओं की नियुक्ति एक साधन के तौर पर की जाती रही है और यह काम उन्हें शैक्षिक विकास का अग्रदूत बनाकर शिक्षा नीति के तहत किया जाता रहा है। हाल ही के दस्तावेजों में हम यह पाते हैं कि शिक्षिकाओं का लचीला रुख व निष्क्रियता उन्हें पुरुषों की तुलना में बेहतर पसंद साबित करती है क्योंकि उनके बारे में यह माना जाता है कि वे राजनीति में लिप्त नहीं होती हैं (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 2001)।

भूमंडलीय आर्थिक सुधारों के संदर्भ में भारत के गरीब व निम्न वर्ग की बढ़ती वंचना को इस रूप में देखा जाता है कि इसका असर इस वर्ग के बच्चों की शिक्षा में भागीदारी करने पर पड़ रहा है। ये परिस्थितियां महिलाओं के काम को घर व स्कूल दोनों जगहों पर पुनर्परिभाषित कर रही हैं। चूंकि हमारे यहां जाति व वर्ग के आधार पर बंटे मानसिक काम व हाथ के काम के बीच एक द्वंद्वात्मक रिश्ता रहा है। अतः शिक्षा के अपने सत्तावादी चरित्र के चलते शिक्षकों को उन्हें मजदूर की श्रेणी में डाल देने वाला सुझाव बहुत नागवार गुजर सकता है। किन्तु यह तर्क दिया जा सकता है कि कौशलों में क्षरण, स्वायत्तता का खात्मा व प्रबंधकीय नियंत्रण का बढ़ना ऐसी वजह रही हैं जिनके कारण कार्यस्थल के तौर पर स्कूल मजदूरी करने वाली जगह में तब्दील हो गया है। आज शैक्षिक सुधारों के इस समय में जबकि सरकारी क्षेत्र की साख गिर रही है, बड़े पैमाने पर निजीकरण हो रहा है, शिक्षक के कामों पर नियंत्रण रखा जाने लगा है और उन्हें संविदा पर दिया जाने लगा है। ऐसे में जेंडर का एक अलग पहलू उभर कर सामने आता है। इन सबको मिलाकर देखने पर वाकरडाइन के उस कथन की पुष्टि ही होती है जिसमें एक तरफ महिला शिक्षक एक 'असंभव कल्पना' में बदल जाती है तो दूसरी तरफ शिक्षण के काम से जुड़ना उन्हें एक मजदूर में तब्दील कर देता है। आज के दौर में शिक्षा भी एक क्षेत्र है जिसका सामाजिक पुनरुत्पादन के नज़रिए से अध्ययन किया जाना चाहिए।

महिलाओं की खुद की प्राथमिकताओं व अनुभवों को लेकर किए गए अध्ययन बताते हैं कि उन्हें परिवार के स्तर पर सामाजिक पुनरुत्पादन में उनकी भागीदारी बढ़ाने को लेकर की जा रही उम्मीदों से निपटना है, साथ ही स्कूल में बच्चों खासकर लड़कियों को लेकर आने की भूमिका को भी निभाना है और उनका स्कूल में ठहराव भी सुनिश्चित करना

है। शिक्षिकाओं को लेकर किए गए अध्ययन बताते हैं कि वे शिक्षक के पेशे को इसलिए चुनती हैं क्योंकि इसे एक इज्जतदार पेशे के रूप में देखा जाता है तथा शिक्षा के क्षेत्र को एक स्त्रियोचित क्षेत्र माना जाता है। शिक्षण के काम को मातृत्व के काम का ही एक स्वभाविक विस्तार माना जाता है। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पेशे को उन परिवारों की ओर से जिनमें लड़कियों का शादी-ब्याह होना तय होता है यानी ससुराल पक्ष के परिवारों में पैदा हुई मांग के दायरे में एक तरह की स्वीकृति मिली हुई है। पढ़ी-लिखी महिला का शिक्षक बनना आय उपार्जन करने व परिवार की आय में मदद करने के लिए एक आदर्श किस्म का विकल्प माना जाता है। इस पेशे के लिए दिया जाने वाला समय दूसरी पारिवारिक जिम्मेदारियां पूरी करने के लिए समय उपलब्ध करवाता है, छुट्टियों आदि से संबंधित इसका जो समय चक्र है वह स्कूल जाने वाले बच्चों के साथ मेल खाता है। साथ ही जो प्रशिक्षण आदि मिलते हैं वे एक तरह की ऐसी सहज पूंजी हैं जिन्हें अपने पति व परिवार के स्थानांतरण के साथ कहीं भी बड़ी आसानी से साथ में ले जाया जा सकता है। यहां हम मातृत्व व पारिवारिकता का एक जाति व वर्ग आधारित चरित्र बनता हुआ देखते हैं और यही वह बात है जो महिलाओं को विकास संबंधी जरूरतों को पूरा करने के एक हिस्से के रूप में वैतनिक रोजगार में शामिल करती है जबकि शिक्षित महिलाओं के लिए स्कूल से बतौर रोजगार जुड़ने के पीछे सुविधा वाला तर्क काम कर रहा होता है।

यह महत्वपूर्ण है और इसे दर्ज किया जाना चाहिए कि शिक्षकों की कोई एक तरह की श्रेणी नहीं है। स्कूलों के आधार पर उनमें विभिन्न प्रकार का स्तरीकरण मौजूद हैं। बैंगलोर के 50 स्कूलों में किए गए अध्ययन से सरकारी व निजी स्कूलों में काम करने वाली शिक्षिकाओं के बीच महत्वपूर्ण अंतर सामने आया। सरकारी क्षेत्र में काम करने वाली शिक्षिकाओं का कार्यकाल स्थायी होता है, उन्हें अच्छी तनख्वाह तथा दूसरे लाभ मिलते हैं। इस वजह से ये महिलाएं परिवारों में अपनी बात मनवाने की ज्यादा बेहतर स्थिति में होती हैं। ये नौकरी के लिए आवेदन करने, परिवार का स्थानांतरण हो जाने पर भी अपनी नौकरी आगे जारी रखने, पदोन्नति के लिए और बेहतर योग्यता हासिल करने, प्रशिक्षण, तैयारी व आकलन के लिए समय चाहने जैसी सभी मांगें अपने परिवार के सामने रख सकती हैं और परिवार से घर के काम-काज व बच्चों की देखभाल में मदद करने की मांग कर सकती हैं। दूसरी ओर निजी स्कूलों में काम करने वाली शिक्षिकाओं का वेतन कम होता है, उन्हें किसी और तरह का कोई लाभ नहीं मिलता, उनका कार्यकाल अनिश्चित होता है। ऐसे में वे कभी भी काम छोड़ देने के लिए अभिशप्त हैं। कम वेतन होने का अर्थ है कि परिवार उनके काम की आसानी से बलि दे सकता है। उन्हें परिवार का सहयोग नहीं मिल सकता तथा जब उनका परिवार दूसरी जगह चला जाता है तो वे उसी नौकरी में बने रहने की अपनी बात नहीं मनवा सकतीं।

इन दोनों ही परिस्थितियों में ऐसा लगता है जैसे महिलाओं ने स्कूली शिक्षा में अपनी जगह होने के तर्क को आत्मसात कर लिया है तथा इसे बच्चों को भावी नागरिक बनाना महत्वपूर्ण है जैसे तर्क से न्यायोचित ठहरा रही हैं। और यही बात अध्येताओं को इस तरफ ले जाती है कि वे शिक्षिकाओं को वाकरडाइन की 'असंभव कल्पना' तथा जीवन में संतोष की संभावना के बीच रखें।

अनुदान न लेने वाले निजी स्कूलों व कम फीस वाले निजी स्कूलों में भारी संख्या में शिक्षिकाओं की नियुक्ति होती है। इन स्कूलों में वे असुरक्षित संविदा पर काम करती हैं, उनकी तनख्वाह बहुत कम होती है और काम के कोई निश्चित घंटे नहीं होते। इस क्षेत्र में रोजगार पाने वाली महिलाओं की नियुक्ति के पैटर्न किस तरह के होते हैं, उनके काम की स्थितियां क्या हैं तथा वे किस सामाजिक पृष्ठभमि से आती हैं, इस बारे में बहुत कम आंकड़े उपलब्ध हैं। दूसरी ओर अभिजात किस्म के निजी स्कूलों का पूरा एक वर्ग है। यह ऐसा क्षेत्र है जो शिक्षा के अंतर्राष्ट्रीय बाजार को अपनी सेवा देता है। यह क्षेत्र भी अध्ययन के दायरे से पूरी तरह बाहर छूटा हुआ है और इसकी बड़ी वजह है अध्येताओं की पहुंच इन तक न हो पाना। इन स्कूलों की ऊंची फीस और हैसियत हमें यह मानने को बाध्य करती है कि इन स्कूलों में जो महिलाएं रोजगार पाती हैं वे उच्च मध्य वर्ग या उच्च वर्ग से ताल्लुक रखती होंगी। एक बड़े शहर में किसी कॉर्पोरेट घराने द्वारा इसी तरह के एक स्कूल में अपनी पहुंच बना पाने की वजह से वहां के शिक्षकों के साथ लिंगभेद के मसले पर आरंभिक स्तर की कुछ बातचीत कर पाना संभव हुआ। इस बातचीत से पता चलता है कि वहां सभी स्तरों पर शिक्षिकाओं को औरतों में तब्दील करने की क्रिया जोर-शोर से चलती रहती है। ये सभी शिक्षिकाएं उन ऊंची

जातियों/उच्च वर्गों से ताल्लुक रखती हैं जिनमें उनकी शादियां कॉर्पोरेट क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों से हो चुकी होती है। चूंकि यह स्कूल शहर के उच्च वर्ग के बीच बेहद लोकप्रिय भी था तो ऐसे में यह मान लेना उचित ही है कि इसकी कुछ विशेषताएं लोगों को पसंद आती होंगी, जैसे- पुरुषों के मनमाफिक इसके वेतनमान होना, महिलाओं की यौनिकता पर नियंत्रण साधना (ड्रेस कोड के जरिए), छात्रों को पूरी तरह एक ग्राहक के तौर पर देखना (कुछ शिक्षिकाओं द्वारा यौन उत्पीड़न महसूस करने के बावजूद उस पर आवाज न उठाना बल्कि चुप्पी को जायज ठहराना) तथा कॉर्पोरेट व्यवस्था में मौजूद प्रशासनिक ढांचे को अपने यहां अपना लेना जिसमें स्कूली प्रबंधन तक पहुंचने से पहले ह्यूमन रिसोर्स मैनेजर जैसे किसी दरबान से दो-चार होना पड़े आदि।

इन अध्ययनों से मिलने वाली अंतर्दृष्टि हमें इस बात पर सोचने के लिए मजबूर करती है कि आज के समय की इस हकीकत का जेंडर संबंधी व्यापक रिश्तों पर क्या असर पड़ता होगा। स्कूलों में एक नए किस्म का जेंडर भेद गढ़ा जा रहा है। अध्ययन हमें बताते हैं कि शिक्षकों के लिए पदोन्नति के कुछ अवसर देने वाले निजी स्कूलों व कम वेतन वाले स्कूलों में काम करने वाले पुरुष शिक्षक शिक्षण को कुछ समय के लिए भरपाई करने वाले रोजगार के तौर पर या एक तरह की पूरक आय के तौर पर देखते हैं। दूसरी तरफ सभी तरह की व्यवस्थाओं में ऊंचे प्रशासनिक पदों पर आमतौर पर पुरुष बैठे होते हैं। सरकारी स्कूली व्यवस्था में तो यह रिश्ता साफ तौर पर उभर कर सामने आता है। शैक्षिक सुधारों के बाद वाले समय में सरकारी स्कूलों में शिक्षिकाओं की संख्या में भारी बढ़ोतरी होने की एक वजह शिक्षकों के पदों का अस्थायी हो जाना है। संविदा या अस्थाई शिक्षकों की भर्ती जेंडर, जाति व शिक्षण के बीच के रिश्ते को पुनर्परिभाषित कर रही है और इस बारे में अध्ययन किए जाने की सख्त जरूरत है। 1996-2006 के दशक के दौरान कुछ राज्यों में यह देखने में आया है कि शहरी व ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में ऊंची जाति के बहुत कम पुरुष संविदा शिक्षक के तौर पर स्कूलों से जुड़े हैं। उनकी जगह इन पदों पर मध्यम जातियों के पुरुषों व उच्च जाति की महिलाओं की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है क्योंकि कम वेतन व असुरक्षित रोजगार के इन पदों पर ये दोनों ही काम करने को तैयार थे।

इन सीमित अध्ययनों से मिलने वाली अन्तर्दृष्टि हमें यह बताती है कि आज के समय में स्कूली शिक्षिकाओं के लिए जो परिस्थिति बन रही है उस पर स्तरीकरण, सामाजिक पहचानों में मौजूद विविधता तथा भूमंडलीकरण के अंतर्गत बदलती हुई हकीकतों की छाप मौजूद है और ऐसा न सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में हो रहा है बल्कि समाज व अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भी हो रहा है। मुम्बई म्यूनिसिपल द्वारा संचालित स्कूलों के शिक्षकों ने एक चर्चा के दौरान बताया कि आज सरकारी शिक्षकों की स्पर्धा निजी-भागीदारी से चल रहे स्कूलों से लगातार बढ़ती जा रही है और इस स्पर्धा का आधार 'निपुणता' व 'पेशेवर दक्षता' को बनाया जाता है। बहुत से म्यूनिसिपल स्कूलों के सामने बंद होने का खतरा लगातार मंडरा रहा है, नियंत्रण व नियमन के नए उपायों के तहत इन स्कूलों पर विचार किया जा रहा है क्योंकि गिरते नामांकन के कारण उन्हें बेअसर माना जा रहा है और यह माना जा रहा है कि ये स्कूल शहर में शामिल हो रही नई जगहों व जनसंख्या के लिए अपने यहां जगह बनाने में बेअसर साबित हो रहे हैं। डीएड प्रशिक्षण प्राप्त युवा महिलाओं को ऐसा लग रहा है जैसे निजी-भागीदारी के आधार पर चल रहे स्कूलों में उन्हें केवल प्रशासनिक काम निपटाने के लिए ही नौकरी दी गई है जबकि पुराने शिक्षक नामांकन बनाए रखने व छात्रों की खराब हालत से निपटने में लगे हुए हैं। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थानों व स्थानीय कॉर्पोरेट निकायों द्वारा सोच-समझकर स्थापित की गई इन नई व्यवस्थाओं में म्यूनिसिपल शिक्षक अपने-आपको शिक्षक के तौर पर कमतर महसूस कर रहे हैं।

आज की मुम्बई का संदर्भ हमारे लिए इस मायने में रोचक अंतर्दृष्टि उपलब्ध करवाता है कि किस तरह विकास संबंधी परियोजनाओं के जरिए बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप सार्वजनिक शिक्षा को पुनर्परिभाषित किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं व कॉर्पोरेट दोनों मिलकर किस तरह म्यूनिसिपल स्कूलों के संबंध में नीति निर्माण में अपना आधिपत्य स्थापित करते जा रहे हैं तथा अधिक से अधिक निजी-भागीदारी वाले मॉडलों को लाने पर जोर दे रहे हैं, स्कूली व्यवस्था को सामाजिक उद्यमिता व कॉर्पोरेट परोपकार के ढांचे के अंतर्गत लाने की कोशिश कर रहे हैं। और यह सब करने के लिए पूरा वातावरण काफी अनुकूल दिखाई दे रहा है। इन परियोजनाओं में से अधिकतर में समुदाय की ऐसी महिलाओं को रोजगार दिया जाता है जिनके पास थोड़ी-सी स्कूली शिक्षा होती है। इन महिलाओं

को सेवाकालीन प्रशिक्षण दिया जाता है और इनकी तनख्वाह सरकारी तनख्वाह की पासंग में भी नहीं होती। शहर की परिधि बदल रही है, इसकी श्रमशक्ति का मिजाज बदल रहा है और श्रमिक प्रक्रियाएं बदल रही हैं, ऐसे में अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजने वाले कामकाजी परिवारों को तेजी से हकीकत में व रूपक के तौर पर भी हाशिए पर धकेला जा रहा है।

निष्कर्षः कुछ और अधिक की खोज

शिक्षकों पर नवउदारवाद का यह हमला उस ऐतिहासिक क्षण में हो रहा है जब ज्यादा से ज्यादा महिलाएं शिक्षा हासिल कर रही हैं व उनके वैतनिक रोजगार हासिल करने की संभावाएं बढ़ गई हैं। महिला शिक्षकों की बढ़ती संख्या के इन आंकड़ों के पीछे उनके उन संघर्ष की कहानियां छुप जाती हैं जिन्हें उन्हें अपनी पहचान हासिल करने के लिए पारिवार में तथा शैक्षिक व कार्यस्थल पर करना पड़ता है। इन आंकड़ों के पीछे इन सभी जगहों पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण के नए स्वरूप व उनकी सत्ता भी छुप जाते हैं।

यह अध्ययन किए जाने की जरूरत है कि शिक्षा के क्षेत्र में हुए इन सुधारों ने शिक्षिकाओं की निजी व पेशेवर पहचान के बोध को किस तरह प्रभावित किया है। इसे जानने के लिए हमें व्यापक आर्थिक सुधारों की वजह से समाजिक/जेंडर रिश्तों पर पड़ने वाले प्रभावों की पड़ताल करनी होगी। हमें स्कूल में तथा घर में किए जाने वाले विभिन्न कामों की सामाजिक संरचना में आए बदलावों की पड़ताल करनी होगी, काम के नए स्वरूपों में जगह बनाने के लिए परिवारों की रणनीतियों में होने वाले बदलावों का अध्ययन करना पड़ेगा, महिलाओं के संघर्षों के नए पहलुओं, उनके अपनी बात मनवाने के नए पहलुओं आदि का अध्ययन करना पड़ेगा। जैसा कि इस लेख में चर्चा की गई है कि शिक्षा के क्षेत्र में सुधारों का जेंडर संबंधी पहलू परेशानी पैदा कर रहा है। एक अध्ययन ने बताया है कि एनसीएफ से जुड़े प्रगतिशील विचार में सीखने वाले के तौर पर बच्चे के व्यक्तिव को लेकर बात की गई है किन्तु सुधार प्रक्रियाओं में शिक्षकों की स्थिति का नकार कायम है। इस अध्ययन ने महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है वह यह कि शिक्षा को लेकर एक बहुप्रचलित विचार यह है कि वह जानकारी के प्रसार का महत्वपूर्ण साधन होती है। आज इस विचार पर सवाल उठने के बावजूद शिक्षक के सरकारी सुधारों के निष्क्रिय प्रतिनिधि होने की धारणा इन सवालों के दायरे से अछूती ही रह जाती है।

एनसीएफ 2005 के बाद की नई पाठ्यचर्या रूपरेखाएं शिक्षिकाओं की रचना खासतौर पर मातृत्व वाली धारणा के इर्दगिर्द कर रही हैं। सामाजिक पुनरुत्पादन व शिक्षा के दूसरे और पहलू भी हैं जिनके बारे में जानने की उम्मीद हम आने वाले समय में कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ अध्ययनों ने दर्शाया है कि शादी के बदलते बाजार की मांगों को पूरा करने के लिए अभिभावक अपनी बेटियों के लिए कम फीस वाले निजी स्कूलों का चुनाव कर सकते हैं। गुणवत्ता व पेशेवर दक्षता के विमर्श ने सत्ता की नई व्यवस्थाओं की रचना कर दी है। शिक्षकों पर प्रशासनिक व गैर-अकादमिक काम का बोझ बढ़ गया है। निगरानी व नियम-कायदों की नई सख्त व्यवस्थाएं आदि सब छात्र की जरूरत व लाभ के हिसाब से बनाई जा रही हैं। शिक्षकों की शिकायत है कि विकासशील राज्य के आज्ञाकारी प्रतिनिधि के तौर पर शिक्षण किए जाने के चक्कर में उनकी स्वायत्तता छिन गई है तथा शिक्षा की व्यापक परियोजना से वे अपने-आपको अलग-थलग महसूस करते हैं।

वर्तमान समय में शिक्षिकाओं के काम व जीवन का अध्ययन करते हुए हम उन संस्थाओं की सत्ता के बीच एक किस्म का तनाव महसूस कर सकते हैं जो किसी खास ऐतिहासिक, आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों के दौरान अस्तित्व में आई थीं। आज उन व्यक्तियों की इच्छाएं इन सत्ताओं के खिलाफ जा सकती हैं और वे अपने स्तर पर संस्थाओं की वर्तमान संरचनाओं को प्रभावित कर सकते हैं। यही शिक्षा का वह मुक्ति संबंधी वादा है जिसे नारीवादी भी मानते हैं और दृढ़ता से उठाते हैं। हमें इस तरह के बदलाव को अवधारणात्मक जामा पहनाने के लिए अभी और काम करने की बेहद जरूरत है। ◆

(यह लेख *इण्डियन जर्नल ऑफ जेण्डर स्टडीज* में छपे *वीमेन स्कूल टीचर्स इन न्यू टाइम्सः सम प्रीलिमनरी रिफ्लेशन्स* का संक्षिप्त भावानुवाद है।)

भाषान्तरः प्रमोद पाठक

लेखिका परिचयः टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोश्यल साइंसेज, मुंबई के स्कूल ऑफ एज्युकेशन में एसोशियेट प्रोफेसर हैं।